

## शिक्षा और समाज का द्वन्द्व

**मई** में लगभग दोपहर शुरू होने से पहले का समय। गर्मी का तेवर धीरे-धीरे बढ़ रहा था। जयपुर शहर की एक सड़क पर निजी स्कूल के बच्चे कतार लगाए हुए थे। हाथों में बैनर लिए। करीब 200 बच्चे। यह कोई ऐसी घटना भी नहीं है जो पहली बार घटी हो। आए दिन ऐसे दृश्य देखने को मिलते हैं। इन बच्चों को देखकर लग रहा था कि ये बच्चे संपन्न स्कूलों के नहीं हैं। बच्चों के हाथों में स्कूल के नाम के बैनर थे और उन पर लिखे 'एडमिशन ओपन' को देखकर लगा कि शायद यह स्कूल के प्रचार का कोई तरीका है। सहज ही जिज्ञासा हुई कि आखिर यहां हो क्या रहा है ? थोड़ा-सा आगे बढ़ने पर मालूम हुआ कि सब बच्चे एक ही स्कूल के नहीं हैं। अलग-अलग यूनीफॉर्म उन्हें अलग-अलग स्कूलों का बता रही थी। बीच में कहीं 'पानी बचाओ' के स्लोगन लिखे बैनर दिखाई देते उससे पहले ही मैंने बच्चों को नियंत्रित करते एक व्यक्ति से पूछा, "ये क्या हो रहा है ?" उसने बताया कि, "जल चेतना पर कई स्कूल मिलकर रैली निकाल रहे हैं।" बच्चों के चेहरे के भावों को देखने से लगता था कि उन्हें इस तरह से बैनर पकड़कर सड़क पर आना अच्छा नहीं लग रहा है। मैं आगे बढ़ा तो यह भी दिखा कि रैली के अंतिम छोर पर बच्चे खुले पाइप से पानी पी रहे हैं, पाइप सड़क के किनारे के किसी मकान के व्यक्ति ने उन्हें मुहैया कराया था। दूसरे बच्चे के आने तक पाइप खुला रहता और पानी बहता।

यह एक छोटी-सी घटना है। किसी को लग सकता है कि इसमें असाधारण क्या है ? संभव है यह रैली जल चेतना प्रचारकों को प्रभावित करे और साथ ही उन्हें यह समाज में जल चेतना लाने का प्रयास भी लगे। शिक्षा में गंभीर काम करने वाले व्यक्ति के लिए यह रैली, अंतिम अनुभव तक, शायद ही सार्थकता का बोध कराए। मेरे हिसाब से इस घटना को दो-तीन तरह से देखा जा सकता है। एक, इस तरह के आयोजनों में बच्चों भागीदारी के लिहाज से कि, क्या इस तरह के मुद्दों में बच्चों को शरीक किया जाना चाहिए ? दूसरा, समाज और शिक्षा के संबंध को समझने की दृष्टि से और तीसरा है, क्या प्रचारात्मक तरीकों से सामाजिक परिवर्तन होते हैं ? एक सवाल यह भी है कि आखिर हम बच्चों से चाहते क्या हैं ? बच्चों को आए दिन किसी रैली में या नेताओं की अगुवाई में खड़ा कर दिया जाता है। बच्चों को वयस्कों द्वारा तय किए एजेण्डे के लिए समर्पित कर दिया जाता है बिना इस बात का खयाल किए कि बच्चों की इस तरह की चीजों में रुचि है भी या नहीं। अब क्योंकि बच्चे सहज रूप से स्कूलों में उपलब्ध रहते हैं और वे अपने शिक्षकों का कहना भी नहीं टाल सकते इसलिए आसानी से पकड़ में आ जाने वाले इन बच्चों को ऐसे आयोजनों में शामिल कर दिया जाता है। यह भी हो सकता है कि बच्चों के प्रति सहज रूप से उत्पन्न होने वाली 'दया' को भी भुनाने की इच्छा कहीं रहती हो कि देखो बेचारे बच्चे ऐसी मांग कर रहे हैं। लेकिन भावना चाहे जो हो इस तरह के मुद्दों में नैतिकता के अन्यान्य सवालों के साथ यह समस्या भी सवाल है कि बच्चों को चुनाव और निर्णय करने के अधिकार से मरहूम रखा जाता है।

किसी भी काम में भागीदार व्यक्ति को उस कार्य के उद्देश्यों या लक्ष्यों का पता होना चाहिए। यही वह सचेतन प्रक्रिया है जिसके लिए शिक्षा प्रयासरत होती है। इस प्रक्रिया में शामिल होने के लिए समस्या की समझ भी आवश्यक है। यही समझ व्यक्ति को चुनाव करने और उसके अनुरूप कर्म करने के लिए तैयार करती है कि उसे क्या करना चाहिए। अविचारित विषय पर किसी भी व्यक्ति को किसी कार्य में लगा देना शिक्षा के उद्देश्यों के विपरीत ही माना जाएगा।

यहां स्कूल को किन्हीं सामाजिक समस्याओं से दूर रखने की बात नहीं है। बात यह है कि स्कूल का सबसे पहला दायित्व उस विषय या मुद्दे पर बच्चे की समझ बनाने का है। शिक्षा में काम करने वाले व्यक्तियों का सरोकार भी यही होना चाहिए कि वह बच्चों के द्वारा किए जा रहे कामों में उनकी सुविचारित भागीदारी और विषय की समझ बनाने का प्रयास करें। यदि ऐसा नहीं होता है तो हम भागीदारी का भ्रम ही पाले रह सकते हैं। यही भ्रम व्यक्ति की चेतना या सामाजिक चेतना में परिवर्तन लाने के संदर्भ में भी सही हो सकता।

एक अन्य बात यह भी है कि बच्चों, स्कूल प्रबंधकों और रैली आयोजकों के लिए क्या इस रैली के मायने एक ही थे ? स्कूल प्रबंधकों के लिए यह रैली उनके प्रचार का माध्यम रही होगी। रैली आयोजकों के लिए इसका उद्देश्य इस मुद्दे पर समाज में जागरूकता लाना रहा होगा। बच्चे जो कि इस तरह के मुद्दों में आमतौर पर रुचि नहीं लेते, वे स्वेच्छा से भागीदार नहीं होकर स्कूल प्रबंधकों के दबाव में ही शामिल हुए होंगे। इस रैली के तीन सहभागी तीन अलग-अलग कारणों से जुड़े हुए थे। साझे उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए साझे सरोकार और साझी समझ की भी आवश्यकता होती है।

हम बच्चों से ऐसे परिवर्तनों की अपेक्षा करने लगते हैं जो कि समाज में स्थापित व्यवस्था से उलट होते हैं। यहीं से समाज और स्कूल के बीच का द्वन्द्व खड़ा होता है। स्कूल, और यहां स्कूल को शिक्षा का एक केन्द्र माना जा रहा है, से यह अपेक्षा की जाती है कि वह सामाजिक परिवर्तन में भूमिका निभाए। निश्चित ही स्कूल की सामाजिक परिवर्तन में भूमिका हो सकती है और होनी भी चाहिए लेकिन पुनः यह भूमिका बच्चों की मुद्दों के प्रति समझ विकसित करने के रूप में होनी चाहिए। इस तरह के आयोजनों के मुद्दे खास होने पर भी बच्चों के सरोकार से जुड़े नहीं होते और उस विषय पर उनकी कोई खास समझ और दिलचस्पी भी नहीं होती।

आमतौर पर स्कूल और समाज के संबंध को इकहरे तौर पर देखा जाता है। हम अपेक्षा करते हैं कि शिक्षा के माध्यम से सभी प्रकार के परिवर्तन हो जाएं। लेकिन शिक्षा समाज से अलग-थलग चलने वाली प्रक्रिया नहीं है। समाज में स्थापित मूल्य चेतना और वांछनीय मूल्य चेतना के बीच की खाई बच्चे के सीखने में भी द्वन्द्व उपस्थित करती है। शिक्षा समाज की उप-व्यवस्था है जो कि समाज में उपस्थित मूल्य चेतना से अप्रभावित नहीं रह सकती। इसका आशय यह भी नहीं है कि शिक्षा की यह प्रक्रिया द्वन्द्व रहित हो जाएगी। बेहतर स्थितियों की प्राप्ति के लिए द्वन्द्व तो रहेगा ही लेकिन बेहतर स्थितियों की प्राप्ति में समाज का योगदान भी महत्वपूर्ण होता है। सामाजीकरण की प्रक्रिया में बच्चा सोचने-समझने के तौर तरीके, मूल्य चेतना और यहां तक की महसूस करने की क्षमता भी समाज से ही प्राप्त करता है। सामाजिक समस्याओं और फिर वह चाहे पानी की ही समस्या हो, बच्चे समाज के सदस्यों का रवैया देखते हैं और उसी के अनुरूप व्यवहार करना सीखते हैं। जल चेतना का ही उदाहरण लें, बच्चे समाज में पानी के प्रति जलदाय विभाग से लेकर वयस्कों की जिस कदर लापरवाही देखते हैं ऐसे में उनसे यह अपेक्षा कैसे की जा सकती है कि वे पानी को किफायत से काम लेंगे। बच्चों को जो बातें अपने घर-परिवार-समाज से सीखनी चाहिए हम उन बातों को सिखाने की अपेक्षा भी स्कूल से करने लगते हैं कि उन बातों को स्कूल ही सिखाए। शिक्षा का दायित्व है कि वह सामाजीकरण के द्वारा प्राप्त इन सभी चीजों पर सवाल उठाते हुए बच्चों में उचित और अनुचित का बोध विकसित करे। यदि बच्चे को समाज में लगातार यही देखने के लिए मिलता रहे कि उससे की जाने वाली अपेक्षाओं के अनुरूप समाज में व्यवहार होता ही नहीं तो ऐसे व्यवहार बच्चे के व्यक्तित्व को खंडित करने का माध्यम बनेंगे।

समाज और शिक्षा का क्या संबंध है और कैसा संबंध होना चाहिए, यह सवाल शिक्षाशास्त्रियों के लिए विचारणीय रहा है। यदि हम हमारी स्थापित शिक्षा व्यवस्था को देखें तो यही समझ में आता है कि दोनों व्यवस्थाएं एक-दूसरे स्वतः तो प्रभावित होती रहती हैं लेकिन न तो शिक्षा ही बहुत सचेतन रूप में सामाजिक परिवर्तन के अपने दायित्व को पूरा कर रही है और न ही समाज शिक्षा के लिए वह स्पेस उपलब्ध करा रहा है जहां कि बच्चों को सीखने का वह वातावरण मिले कि बच्चे बेहतर रूप से सीख पाएं। ऐसा लगता है कि समाज और शिक्षा अलग-थलग रहते हुए अपना-अपना काम कर रहे हैं। कुछ लोगों का मानना है कि यदि शिक्षा अपना काम ठीक तरह से करे तो समाज में स्वतः ही परिवर्तन हो जाएगा। लेकिन दूसरी तरह के लोग भी हैं जो यह मानते हैं कि शिक्षा व्यवस्था को सामाजिक परिवर्तन का

माध्यम बनाने के लिए यह जरूरी है कि बच्चों को समाज में भी वैसा ही वातावरण मिले जैसा समाज हम चाहते हैं। इन दोनों विचारों के बीच संगति बिठाना भी एक चुनौतिभरा काम है। लेकिन इन दोनों के बीच का द्वन्द्व बच्चों के व्यक्तित्व एवं सीखने को लगातार प्रभावित करता रहेगा। जॉन डिवी ने अपनी पुस्तक 'शिक्षा और लोकतंत्र' में कहा है कि यदि हम बच्चों की शिक्षा को सबोध रूप से नियंत्रित करना चाहते हैं तो उसका एक ही तरीका है कि उस पर्यावरण को नियंत्रित किया जाए जिसमें बच्चे क्रियाशील होते हैं और इसी कारण सोचते और अनुभव करते हैं। अर्थात् शिक्षा कोई ऐसा कारोबार नहीं है जो समाज में चल रहे कारोबारों से जुदा रह सके और उससे पृथक रहते हुए अपने लक्ष्यों को पूरा कर सके। यदि हम बच्चों को किसी भी प्रकार की मूल्य चेतना से संपन्न करना चाहते हैं तो बच्चों के लिए समाज में भी ऐसा वातावरण देना होगा जिससे कि बच्चों का सीखना सकारात्मक दिशा ले सके। लेकिन समस्या तब खड़ी होती है जब समाज अपने दायित्वों को दरकिनार करते हुए बच्चों से ही परिवर्तन की अपेक्षा करने लगता है। यही वह द्वन्द्व है जो समाज और शिक्षा के बीच की खाई बने हुए है।

सामाजिक बदलाव के लिए प्रचारात्मक तरीकों का बोलबाला बढ़ा है। शिक्षा भी अब प्रचारात्मक तरीकों से मुक्त नहीं है। इन प्रचारात्मक तरीकों से यह लग सकता है कि इनके माध्यम से परिवर्तन हो रहा है। शिक्षा का ही उदाहरण लें, बच्चों को पढ़ाने को लेकर सरकार एवं अन्य एजेन्सियां प्रचार का बहुत सहारा लेती रही हैं। 'सबको पढ़ाओ' के नारे सब जगह दिखाई पड़ जाते हैं। इसके आंशिक असर से भी इंकार नहीं किया जा सकता लेकिन इसके महत्वपूर्ण कारण को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता कि बच्चों का बढ़ता नामांकन या उपस्थिति कहीं इस गहरे अहसास से प्रभावित है कि आने वाले समय में बिना पढ़े-लिखे के लिए इस दुनिया में जीवन व्यतीत करना बहुत मुश्किल होने वाला है। और यह अहसास प्रचार से नहीं आ रहा है। यह समाज के बदलते स्वरूप से आ रहा है। कहने का आशय है कि वास्तविक सामाजिक परिवर्तन समस्याओं से बिना रूबरू हुए नहीं हो सकता। प्रचार जैसे तरीके व्यक्ति की चेतना को क्षणिक रूप से प्रभावित कर सकते हैं लेकिन स्थाई रूप से प्रभावित नहीं करते। और जो स्थायी रूप से प्रभावित कर सकता है वह है व्यक्ति की समझ। अतः इस प्रकार के प्रचारात्मक तरीके हमें बहुत दूर तक नहीं ले जा सकते।

शिक्षा से यह अपेक्षा की जाती है कि इसके माध्यम से व्यक्ति की चेतना का विकास हो और वह सामाजिक गतिविधियों में भागीदारी करे। यदि भागीदारी बच्चे की जानने की उत्सुकता या बच्चे के सरोकार से बनती है तो इसमें किसी भी तरह की समस्या नहीं है लेकिन यदि दूसरों के द्वारा तय किए जाने पर और बच्चों किसी भी तरह के आदेश के मुताबिक शामिल होना पड़ता है तो समस्या खड़ी हो जाती है। दरअसल हमारी शिक्षा व्यवस्था की एक समस्या यह भी है कि बच्चे और शिक्षक दूसरों द्वारा तय किए एजेण्डे पर ही काम करते रहते हैं। यह तो नहीं कहा जा सकता कि बच्चों के लिए यह रैली नितान्त महत्वहीन होगी और यह उनकी चेतना को लेशमात्र भी प्रभावित नहीं करेगी। क्योंकि व्यक्ति की चेतना के विकसित होने के तरीकों में अनेक बार ऐसा भी होता है कि पहले वह बहुत-सी प्रक्रियाओं में निष्क्रिय भागीदारी ही कालान्तर में उसकी चेतना को दिशा देने का काम भी करती है। हमेशा ही ऐसा हो यह भी जरूरी नहीं है। लेकिन यह तो कहा ही जा सकता है कि बच्चों को इस तरह के कार्यक्रमों में शामिल होने से तब तक बचाना चाहिए जब तक की वे समस्या को समझकर उसमें शामिल होने की इच्छा जाहिर न करें।

विश्वम्बर